विद्वान् और समाज

विद्वान् समाजका एक विशिष्ट अङ्ग है। शरीरमें जो स्थान शिर (उत्तमाङ्ग) का है वही समाजमें विद्वान् (ज्ञानवान्) का है। यदि शरीरमें शिर न हो या रुग्ण हो तो शरीर शरीर न रहकर धड़ हो जायेगा या उससे सार्थक जीवन-क्रिया नहीं हो सकेगी। सारे शरीरकी शोभा भी शिरसे ही है। अतः शिर और उसके उपाङ्गों—आँख, कान, नाक आदिकी रक्षा एवं चिन्ता सदा की जाती है। विद्वान् समाजके धर्म, दर्शन, इतिहास और श्रुतका निर्माण एवं संरक्षण करके उसे तथा उसकी संस्कृतिको सप्राण रखता है। यदि विद्वान् न हो या वह चिन्ताग्रस्त हो तो स्वस्थ समाज और उसकी उच्च संस्कृतिकी कल्पना ही नहीं की जा सकती है। पर दुर्भाग्यसे इस तथ्यको समझा नहीं जाता। यही कारण है कि समाजमें विद्वान्की स्थिति चिन्तनीय और दयनीय है। किसी विद्यालय या पाठशालाके लिए विद्वान्की आवश्यकता होनेपर उससे व्यवसायकी मनोवृत्तिसे बात की जाती है। संस्था-संचालक उसे कम-से-कम देकर अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। कुछ महीने पूर्व एक संस्था-संचालक महानुभावने हमें विद्वान्के लिए उसकी वांछनीय योग्यताओंका उल्लेख करते हुए लिखा। हमने उन्हें उत्तर दिया कि यदि उक्त योग्यतासम्पन्न विद्वान्के लिये कम-से-कम तीनसौ रुपए मासिक दिया जा सके तो विद्वान् भेज देंगे। परन्तु उन्होंने तीनसौ रुपए मासिक देना स्वीकार नहीं किया। फ़लतः वही विद्वान् छहसौ रुपए मासिकपर अन्यत्र चला गया। कहा जाता है कि विद्वान् नहीं मिलते। विचारणीय है कि जो किसी धार्मिक शिक्षणसंस्थामें दश वर्ष धर्म-दर्शनका शिक्षण लेकर विद्वान् बने और बादमें उसे उसकी श्रुत-सेवाके उपलक्ष्यमें सौ-डेढ़सौ रुपए मासिक सेवा-पारिश्रमिक दिया जाय तो वह आजके समयमें उससे कैसे निर्वाह करेगा। काश! वह सद्गृहस्थ हो और दो-चार बाल-बच्चे हों, तो वह श्रुत-सेवा कर सकेगा या आर्थिक चिन्तामें ही घुलता रहेगा! अतः आज हमें इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर गम्भीरतासे विचारकर श्रुत-सेवकोंकी परम्पराको हर प्रयत्नसे जीवित रखना है। यदि हमने इसकी उपेक्षा की तो अगले दश वर्षमें ये टिमटिमाते दीपक भी बुझ जावेंगे और इस दिशामें कोई भी आना पसन्द नहीं करेगा, जबकि लौकिक विद्याके क्षेत्रमें विविध मार्गोंमें प्रवेशकर भरपूर आर्थिक लाभ होगा। इससे संस्कृतिकी जो क्षति होगी उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

विद्वान्का दायित्व

विद्वान्को यह सदा ध्यान रखना आवश्यक है कि वह समाजसे अलग नहीं है—वह उसका ही अभिन्न अङ्ग है। बिना शिरके जैसे शरीर संज्ञाहीन धड़ कहा जाता है उसी प्रकार बिना धड़के शिर भी चेतनाशून्य होकर अपना अस्तित्व खो देता है। अतः दोनोंका अभिन्नत्व ही जीवन-क्रियाका सम्पादक है। ठीक इसी प्रकार बिना विद्वान्के समाज और बिना समाजके विद्वान् भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकते हैं। फिर समाजमें उसने जन्म लिया है उसके प्रति उसका कृतज्ञभावसे बहुत बड़ा कर्त्तव्य है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और न उसे भुलाया ही जा सकता है। संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्यके संरक्षणका जिस तरह समाजका परमावश्यक कर्त्तव्य है उसी तरह विद्वान्का भी उनके संरक्षणका परम दायित्व है। इस सत्यको हमें नहीं भूलना है। हमपर उस श्रेष्ठ परम्पराको आगे बढ़ानेका उत्तरदायित्व है, जिस परम्परा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को आचार्योंके बाद आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी, पण्डित जयचन्दजी, गुरु गोपालदासजी, वर्णी गणेशप्रसादजी जैसे विद्वद्रत्नोंने जीवनव्यापी कष्टोंको सहते हुए त्यागवृत्तिके साथ हम तक पहुँचाया है। बिना त्यागके श्रुतसेवा की ही नहीं जा सकती है। हमारा विश्वास है कि श्रुतसेवाका लक्ष्य और उसकी ओर प्रवृत्ति रहनेपर विद्वान् धनी न बन सके, तो भूखा भी नहीं रह सकता। जो श्रुत केवलज्ञान-प्रदाता और परमात्मपद-दाता है उसके उपासक आर्थिक कष्टसे सदा ग्रस्त नहीं रह सकते। सारस्वतका ध्येय स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें 'लोकमें व्याप्त जड़ता और मूढ़ताको दूरकर जिनशासनका प्रकाश करना' है। भौतिक उपलब्धियाँ तो उसे अनायास प्राप्त होंगी। सरस्वतीका उपासक यों अपरिग्रहमें ही सरस्वतीकी अधिक सेवा करता और आनन्द उपलब्ध करता है।

समस्याएँ

यों तो जीवन ही समस्याओंसे घिरा हुआ है। कोई-न-कोई समस्या जीवनमें खड़ी मिलती है। किन्तु धीर और वृद्धिमान् उन समस्याओंपर काबू पा लेता है। आज देशके सामने कितनी समस्याएँ हैं। पर राष्ट्रनेता उन्हें देर-सबेर हल कर लेते हैं। हमारी समाजमें भी अनेक समस्याएँ हैं। उनमें तीर्थक्षेत्रोंकी समस्या प्रमुख है। यदि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समाजें, जो भगवान् महावीर और उनसे पूर्ववर्ती ऋषभादि तेईस तीर्थंकरोंकी उपासिका हैं, आगामी भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाणोत्सवके उपलक्ष्यमें समानताके आधारपर तीर्थक्षेत्रोंकी समस्याको सुलझा लें, तो दोनोंमें घृणा और भयका भाव दूर होकर पारस्परिक सौहार्द सम्भव है और उस दशामें तीर्थोंका विकास तथा समृद्धिकी भी सम्भावना है, जहाँ विश्व-के लोग भारत-भ्रमणपर आनेपर जा सकते हैं और विश्वको उनका परिचय दे सकते हैं।

यहाँ हमें मुख्यतया विद्वानोंकी समस्याओंका उल्लेख अभीष्ट है। उनकी समस्याएँ साम्पत्तिक या आधिकारिक नहीं हैं। वे केवल वैचारिक हैं। तीन दशक पूर्व दस्सा-पूजाधिकार, अन्तर्जातीय-विजातीय-विवाह जैसी समस्याएँ थीं, जो समयके साथ हल होती गयी हैं। दस्साओंको समानरूपसे मन्दिरोंमें पूजाका अधिकार मिल गया है। अन्तर्जातीय और विजातीय विवाह भी, जो शास्त्र-सम्मत हैं और अनार्यप्रवृत्ति नहीं हैं, होने लगे हैं और जिनपर अब कोई रोक नहीं रही। स्वामी सत्यभक्त (पं० दरबारीलालजी) वर्धा द्वारा-की गयी जैनधर्मके सर्वज्ञतादि सिद्धान्तोंकी मीमांसा भी दि० जैनसंघ द्वारा प्रकाशित '**विरोध-परिहार**' जैसे ग्रन्थोंके द्वारा उत्तरित हो चुकी है। डाक्टर हीरालालजी द्वारा उठाये गये प्रश्न भी '**अनेकान्त**' (मासिक) आदि द्वारा समाहित किये गये हैं।

हमें स्वर्गीय पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सुनाये गये उस युगकी याद आती है जब गुरु गोपालदासजीको समाजके भीतर और बाहर जानलेवा जबर्दस्त टक्कर लेना पड़ती थी, जिसे वे बड़ी निर्भ-यता और ज्ञानवैभवसे लेते थे। उस समय संकीर्णता और अज्ञानने समाजको तथा घृणा और असहनशीलताने आर्यसमाजको बलात् जकड़ रखा था। गुरुजीने दोनों मोर्चोंपर शानदार विजय प्राप्त की थी। शास्त्रार्थ-संघ अम्बालाका, जो अब दि० जैन संघ मथुराके नामसे प्रसिद्ध है, उदय संकीर्णता, अज्ञान, घृणा, असहनशीलता जैसी कुण्ठाओंके साथ संघर्ष करनेके लिए ही हुआ था और इस दिशामें उसने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वेदविद्या-विशारद पं० मंगलसेनजी अम्बाला, विचक्षण-मेधावी पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ जैसे समर्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वान्-सेनानियोंने आर्यसमाजके साथ शास्त्रार्थ करके जैनधर्मके सिद्धान्तोंकी रक्षा ही नहीं की, स्वामी कर्मानन्दजी जैसे आर्यसमाजी महाशास्त्रार्थी विद्वान्की आस्थाको जैनधर्ममें परिणत भी किया था।

आज भी कुछ सैद्धान्तिक मतभेदकी समस्याएँ हैं, जिनका होना अस्वाभाविक नहीं है। आचार्योंतकमें सैद्धान्तिक मतभेद रहा है। आचार्य वीरसेनने ऐसे अनेक आचार्य-मतभेदोंका धवलामें समुल्लेख किया है। किन्तु दुर्भाग्यसे आज कुछ खिचाव पाया जाता है। वह नहीं होना चाहिए। वाणी और लेखनी दोनोंमें संयम वांछनीय हैं। वीतरागकथामें असंयमका स्थान तो है ही नहीं। जब हम अपनी शास्त्र-सम्मत बातको दूसरेके गलेमें उतारनेका प्रयास करें तो आग्रह और आग्रहसे चिपटे रोष, अहंकार एवं असद्भावसे मुक्त होकर ही उसकी चर्चा करें। दोनों पक्ष स्याद्वादी हैं। उन्हें निरपेक्ष आग्रह तो होना ही नहीं चाहिए। यह गौरव और प्रसन्नताकी बात है कि ये दोनों पक्ष विद्वत्परिषद्में समाहित हैं और दोनों ही उसका समादर करते हैं। हमारा उनसे नम्र निवेदन है कि वे विद्वत्परिषद्का जिसप्रकार गौरव रखकर आदर करते हैं उसी प्रकार वे समग्र श्रुतकी उपादेयताका भी गौरवके साथ सम्मान करें। श्रुत चार अनुयोगों—प्रथमानुयोग, द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग—में विभक्त है। समन्तभद्रस्वामीने इनका समानरूपमें विवेचन किया है और चारोंकी आस्था—भक्तिको सम्यग्ज्ञानका तथा सम्यग्ज्ञानको मुक्तिका कारण बतलाया है। ऐसी स्थितिमें अनुयोगविशेषपर बल देकर दूसरे अनुयोगोंकी उपेक्षा या अनादेयता नहीं ही होनी चाहिए। यह बात अलग है कि अमुक अनुयोगकी अपेक्षासे विवेचन करनेपर उसकी प्रधानता हो जाय और अन्यकी अप्रधानता। पर उनकी उपेक्षा न की जाय—विवेचनमें उन्हे भी स्थान मिलना चाहिए। इसीलिए ज्ञेयतत्त्वको समझनेके लिए प्रमाणके अतिरिक्त द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों और निक्षेपोंका तथा उपादेयको ग्रहण करनेके लिए व्यवहार और निश्चय नयोंका आगममें प्रतिपादन है। प्रथमको दर्शन-शास्त्रका और दूसरेको अध्यात्मशास्त्रका प्रतिपादन कहा गया है। महर्षि कुन्दकुन्दने इन दोनों शास्त्रोंका निरूपण किया है। उनके पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड और प्रवचनसार मुख्यतः दर्शनशास्त्रके ग्रन्थ हैं तथा नियमसार एवं समयसार अध्यात्मशास्त्रके। द्वादशांग श्रुत इन दोनोंका समुच्चय है। दर्शनशास्त्र जहाँ साधन है वहाँ अध्यात्मशास्त्र साध्य है और साध्यकी उपलब्धि बिना साधनके सम्भव नहीं। हाँ, साध्यके उपलब्ध हो जानेपर साधनका परित्याग या गौणता हो जाय, यह अलग बात है। अग्निज्ञान हो जानेपर धूमज्ञान अनावश्यक हो ही जाता है। पर अग्निज्ञानके लिए धूमज्ञानकी अनिवार्यता अपरिहार्य है।

जैनधर्म वीतराग-विज्ञान धर्म है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। किन्तु वह अपने इस नामसे लक्ष्य-निर्देशभरकी अभिव्यक्ति करता है। उसमें लक्ष्य-प्राप्तिके उपकरणोंका समावेश नहीं है, ऐसा न कहा जा सकता है और न माना जा सकता है। किसी ग्रन्थका नाम '**मोक्षशास्त्र**' हैं। वह केवल मोक्षका ही प्रतिपादक नहीं होता। उसमें उसके विरोधी-अविरोधी सभी आवश्यक ज्ञेय और उपादेय तत्त्वोंका विवेचन होता है। स्वयं '**समयसार**' में शुद्ध आत्माका प्रतिपादन करनेके लिए ग्रन्थकार कुन्दकुन्दमहाराजने बन्ध, आस्रव, संवर, निर्जरा आदिका भी निरूपण किया है। इन्हीं बन्धादिका विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन '**षट्खण्डागम**' में आचार्य भूतबली-पुष्पदन्तने और '**कषायप्राभृत**' में आचार्य गुणधरने किया है। तथा इन्हींके आधारसे गोम्मटसारादि ग्रन्थ रचे गये हैं।

धर्मका आधार मुमुक्षु और सद्गृहस्थ दोनों हैं तथा सद्गृहस्थोंके लिए संस्कृति और तत्त्वज्ञान आवश्यक हैं। और इन दोनोंकी स्थितिके लिए वाङ्मय, तीर्थ, मन्दिर, मूर्तियाँ, कला, पुरातत्त्व और इतिहास अनिवार्य हैं। इनके बिना समाजकी कल्पना और समाजके बिना धर्मकी स्थिति सम्भव ही नहीं। मुमुक्षुधर्म भी गृहस्थधर्मपर उसी प्रकार आधारित है जिस प्रकार खम्भों पर प्रासाद निर्भर है। मुमुक्षुको मुमुक्षुतक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुँचानेके लिए आरम्भमें दर्शन-शास्त्रका विमर्श आवश्यक है। उसके विना उसकी नींव मजबूत नहीं हो सकती। यह भी हमें नहीं भूलना है कि लक्ष्यको समझने और पानेके लिए उसकी ओर ध्यान और प्रवृत्ति रखना नितान्त आवश्यक है। दर्शन-शास्त्रको तो सहस्रोंबार ही नहीं, कोठि-कोटि बार भी पढ़ा-सुना है फिर भी लक्ष्यको नहीं पा पाये। तात्पर्य यह कि दर्शन-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र दोनोंका चिन्तन जीवन-शुद्धिके लिए परमाश्वक है। इनमेंसे एककी भी उपेक्षा करनेपर हमारी वही क्षति होगी, जिसे आचार्य अमृतचन्द्रने निम्न गाथाके उद्धरणपूर्वक बतलाया है—

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

—आत्मख्याति, स० सा०, गा० १२।

'यदि जिन-शासनकी स्थिति चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय दोनोंको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारके छोड़ देनेपर धर्मतीर्थका और निश्चयके छोड़नेसे तत्त्व (अध्यात्म) का विनाश हो जायेगा।'

यह सार्थ चेतावनी ध्यातव्य है।

स्वामी अमृतचन्द्रने उभयनयके अविरोधमें ही समयसारकी उपलब्धिका निर्देश किया है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥४॥

'उभयनयके विरोधको दूर करनेवाले 'स्यात्' पदसे अंकित जिन-शासनमें जो ज्ञानी स्वयं निष्ठ हैं वे अनव—नवीन नहीं, एकान्त पक्षसे अखण्डित और अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप समयसारको शीघ्र देख (पा) ही लेते हैं।'

अमृतचन्द्रसे तीनसौ वर्ष पूर्व भट्ट अकलङ्कदेवने ऋषभको आदि लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थकरोंको धर्मतीर्थकर्ता और स्याद्वादी कहकर उन्हें विनम्रभावसे नमस्कार किया तथा उससे स्वात्मोपलब्धिकी अभिलाषा की है। जैसाकि भाषणके आरम्भमें किये गये मङ्गलाचरणसे, जो उन्हींके लघीयस्त्रयका मङ्गलश्लोक है, स्पष्ट है। इससे हम सहज ही जान सकते हैं कि स्याद्वाद तीर्थंकर-वाणी है—उन्हींकी वह देन है। वह किसी आचार्य या विद्वान्का आविष्कार नहीं है। वह एक तथ्य और सत्य है, जिसे इंकारा नहीं जा सकता। निश्चयनयसे आत्माका प्रतिपादन करते समय उस परद्रव्यका भी विश्लेषण करना आवश्यक है, जिससे उसे मुक्त करना है। यदि बद्ध परद्रव्यका विवेचन, जो षट्खण्डागमादि आगमग्रन्थोंमें उपलब्ध है, न किया जाय और केवल आत्माका ही कथन किया जाय, तो जैन-दर्शनके आत्म-प्रतिपादनमें और उपनिषदोंके आत्मप्रतिपादनमें कोई अन्तर नहीं रहेगा।

एक बार न्यायालङ्कार पं० वंशीधरजीने कहा था कि एक वेदान्ती विद्वान्ने गुरुजीसे प्रश्न किया था कि आपके अध्यात्ममें और वेदान्तके अध्यात्ममें कोई अन्तर नहीं है? गुरुजीने उत्तर दिया था कि जैन दर्शनमें आत्माको सदा शुद्ध नहीं माना, संसारावस्थामें अशुद्ध और मुक्तावस्थामें शुद्ध दोनों माना गया है। पर वेदान्तमें उसे सदा शुद्ध स्वीकार किया है। जिस मायाकी उसपर छाया है वह मिथ्या है। लेकिन जैन दर्शन में आत्मा जिस पुद्गलसे बद्ध, एतावता अशुद्ध है वह एक वास्तविक द्रव्य है। इससे संयुक्त होनेसे आत्मामें विजातीय परिणमन होता है। यह विजातीय परिणमन ही उसकी अशुद्धि है। इस अशुद्धिका जैन दर्शनमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तारसे विवेचन है। उससे मुक्त होनेके लिए ही संवर, निर्जरा आदि तत्त्वोंका विवेचन है। तात्पर्य यह कि जिन-शासन जब स्वयं स्याद्वादमय है, तो उसमें प्रतिपादित आत्मस्वरूप स्याद्वादात्मक होना ही चाहिए। इस तरह दोनों नयोंसे तत्त्वको समझने और प्रतिपादन करनेसे ही तत्त्वोपलब्धि एवं स्वात्मोपलब्धि प्राप्य है।

साहित्यक प्रवृत्तियाँ और उपलब्धियाँ

आजसे पचास वर्ष पूर्व जैन साहित्य सबको सुलभ नहीं था। इसका कारण जो भी रहा हो। यहाँ साम्प्रदायिकताके उन्मादने कम उत्पात नहीं किया। उसने बहुमूल्य सहस्रों ग्रन्थोंकी होली खेली है। उन्हें जलाकर पानी गरम किया गया है और समुद्रों एवं तालाबोंमें उन्हें डुबा दिया गया है। सम्भव है उक्त भय-से हमारे पूर्वजोंने बचे-खुचे वाङ्मयको निधिकी तरह छिपाया हो या दूसरोंके हाथ पड़नेपर अविनयका उन्हें भय रहा हो। प्रकाशनके साधन उपलब्ध होनेपर सम्भवतः उसी भयके कारण उन्होंने छापेका भी विरोध किया जान पड़ता है। परन्तु युगके साथ चलना भी आवश्यक होता है। अतएव कितने ही दूरदर्शी समाज-सेवकोंने उस विरोधका सामना करके भी ग्रन्थ-प्रकाशनका कार्य किया। फलतः आज जैन वाङ्मयके हजारों ग्रन्थ प्रकाशमें आ गये हैं। षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, धवला-जयधवलादि टीकाएँ जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थ भी छप गये हैं और जनसामान्य भी उनसे ज्ञानलाभ ले रहा है। इस दिशामें श्रीमन्तसेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र जैन-साहित्योद्धारक-फन्डद्वारा डाक्टर हीरालालजी, उनके सहयोगी पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, पं० हीरालाल-जी शास्त्री और पं० बालचन्द्रजी शास्त्रीके सम्पादन-अनुवादादिके साथ षट्खण्डागमके १६ भागोंका प्रकाशन उल्लेखनीय है। सेठ माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमालासे स्वर्गीय पं० नाथूरामजी प्रेमीने कितने ही वाङ्मयका प्रका-शन कर उद्धार किया है। जीवराज-ग्रन्थमालासे डाक्टर ए० एन० उपाध्ये एवं पं० बालचन्द्रजी शास्त्रीने तिलोय-पण्णत्ती आदि अनेक ग्रन्थोंको प्रकाशित कराया है। स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तारके वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली और वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट वाराणसीसे कई महत्त्वके ग्रन्थ प्रकट हुए हैं। श्री गणेशप्रसादवर्णी-ग्रन्थमालाका योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिस प्रकाशन-संस्थासे सर्वाधिक जैन वाङ्मयका प्रकाशन हुआ, वह है भारतीय ज्ञानपीठकीमूर्तिदेवी ग्रन्थमाला। इस ग्रन्थमालासे सिद्धिविनिश्चय जैसे अनेक दुर्लभ ग्रन्थ सामने आये हैं और आ रहे हैं। इसका श्रेय जहाँ स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी, पं० कैलाशचन्द्रजी, पं० फूलचन्द्रजी, पं० हीरालालजी आदि उच्च विद्वानोंको प्राप्त है वहाँ ज्ञानपीठके संस्थापक साहू शान्तिप्रसादजी और अध्यक्षा श्रीमती रमारानीजीको भी है। उल्लेख्य है कि श्रीजिनेन्द्रवर्णीद्वारा संकलित-सम्पादित जैनेन्द्र-सिद्धान्त कोष (२ भाग) का प्रकाशन भी स्वागतयोग्य है। इस प्रकार पिछले पचास वर्षोंमें साहित्यिक प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती गयी हैं, जिसके फलस्वरूप बहुत-सा जैन वाङ्मय सुलभ एवं उपलब्ध हो सका है।

स्व० डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीने विद्यादान और साहित्य-सृजनमें जो असाधारण योगदान किया है वह मुक्तकण्ठसे स्तुत्य है। लगभग डेढ़ दर्जन शोधार्थी विद्वान् आपके निर्देशनमें जैन विद्याके विभिन्न अङ्गों-पर पी-एच० डी० कर चुके हैं और लगातार क्रम जारी है। भारतीय ज्योतिष, लोकविजय-यन्त्र आदिपुराण-में प्रतिपादित भारत, संस्कृत-काव्यके विकासमें जैन कवियोंका योगदान जैसे अनेक ग्रन्थ-रत्न आपकी रत्न-गर्भा सरस्वतीने प्रसूत किये हैं। पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्यकी भारतीने तो भारतके प्रथम नागरिक सर्वोच्च पदासीन राष्ट्रपति श्री वराह वेंकटगिरि तकको प्रभावित कर उन्हें राष्ट्रपति-सम्मान दिलाया और भारतीय वाङ्मयको समृद्ध बनाया है। आदिपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, गद्यचिन्तामणि, जीवन्धरचम्पू, पुरुदेवचम्पू, तत्त्वार्थसार, समयसार, रत्नकरण्डकश्रावकाचार आदि अर्धशती ग्रन्थ-राशि आपके द्वारा अनूदित एवं सम्पादित हुई है। डा० देवेन्द्रकुमारजी रायपुरका 'अपभ्रंश भाषा और साहित्यकी शोधप्रवृत्तियाँ, डा० हीरालालजी जैनका 'णायकुमारचरिउ', डा० ए० एन० उपाध्येका गीतवीतराग, पं०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका 'नयचक्र', पं० अमृतलालजी शास्त्रीका 'चन्द्रप्रभचरित', डा० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालका 'राजस्थानके जैन सन्त : कृतित्व और व्यक्तित्व', श्री श्रीचन्द्रजी जैन उज्जैनका 'जैन कथानकोंका सांस्कृतिक अध्ययन' आदि नव्य-भव्य रचनाओंने जैनवाङ्मयके भण्डारकी अभिवृद्धि की है।

जैन शिक्षण-संस्थाएँ

आजसे पचास वर्ष पूर्व एकाध ही शिक्षण-संस्था थी। गुरु गोपालदासजी वरैया और पूज्य श्रीगणेशप्रसादजी वर्णीके धारावाही प्रयत्नोंसे सौ-से भी अधिक शिक्षण-संस्थाओंकी स्थापना हुई। मोरेना विद्यालय और काशीका स्याद्वाद-महाविद्यालय उन्हींमेंसे हैं। मोरेनासे जहाँ आरम्भमें सिद्धान्तके उच्च विद्वान् तैयार हुए वहाँ काशीसे न्याय, साहित्य, धर्म और व्याकरणके ज्ञाता तो हुए ही, अंग्रेजीके भी विद्वान् निकले हैं। यह गर्वकी बात है कि आज समाजमें जो बहुसंख्यक उच्च विद्वान् हैं वे इसी विद्यालयकी देन हैं। वस्तुतः इसका श्रेय प्राचार्य गुरुवर्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीको है, जो विद्यालयके पर्यायवाची माने जाते हैं। सागरके गणेशविद्यालयकी भी समाजको कम देन नहीं है। इसने सैकड़ों बुझते दीपकोंमें तेल और बत्ती देकर उन्हें प्रज्वलित किया है।

पर आज ये शिक्षण-संस्थाएँ प्राणहीन-सी हो रही हैं। इसका कारण मुख्यतया आर्थिक है। यहाँसे निकले विद्वानोंकी खपत समाजमें अब नहीं-के-बराबर है और है भी तो उन्हें श्रुतसेवाका पुरस्कार अल्प दिया जाता है। अतः छात्र, अब समाजके बाजारमें उनकी खपत कम होनेसे, दूसरे बाजारोंको टटोलने लगे हैं और उनमें उनका माल ऊँचे दामोंपर उठने लगा है। इससे विद्वानोंका ह्रास होने लगा है। फलतः समाज और संस्कृतिको जो क्षति पहुँचेगी, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। अतः समाजके नेताओंको इस दिशामें गम्भीरतासे विचार करना चाहिए। यदि तत्परतासे तुरन्त विचार न हुआ तो निश्चय ही हमारी हजारों वर्षोंकी संस्कृति और तत्त्वज्ञानकी रक्षाके लिए संकटकी स्थिति आ सकती है।

विद्वत्परिषद्का भावी कार्यक्रम

विद्वत्परिषद्के साधन सीमित हैं और उसके चालक अपने-अपने स्थानोंपर रहकर दूसरी सेवाओंमें संलग्न हैं। उन आवश्यक सेवाओंसे बचे समय और शक्तिका ही उत्सर्ग वे समाज, साहित्य और संगठनमें करते हैं। अतः हमें अपनी परिधिके भीतर आगामी कार्यक्रम तय करना चाहिए।

हमारा विचार है कि परिषद्को निम्न तीन कार्य हाथमें लेकर उन्हे सफल बनाना चाहिए।

१. जैन विद्या-फण्डकी स्थापना।

२. भगवान् महावीरकी २५००वीं निर्वाणशतीपर सेमिनार।

३. ग्रन्थ-प्रकाशन।

१. पूज्य वर्णीजीके साभापत्यमें सन् १९४८ में परिषद्ने एक केन्द्रीय छात्रवृत्ति-फण्ड स्थापित करनेका प्रस्ताव किया था, जहाँ तक हमें ज्ञात है, इस प्रस्तावको क्रियात्मक रूप नहीं मिल सका है। आज इस प्रकारके फण्डकी आवश्यकता है। प्रस्तावित फण्डको 'जैन विद्या-फण्ड' जैसा नाम देकर उसे चालू किया जाय। यह फण्ड कम-से-कम एक लाख रुपएका होना चाहिए। इस फण्डसे (क) आर्थिक स्थितिसे कमजोर विद्वानोंके बच्चोंको सम्भव वृत्ति दी जाय। (ख) उन योग्य शोधार्थियोंको भी वृत्ति दी जाय, जो जैन-विद्याके किसी अङ्गपर किसी विश्वविद्यालयमें शोधकार्य करें। (ग) शोधार्थीके शोध-प्रबन्धके टङ्कन या शुल्क या दोनोंके लिए सम्भव मात्रामें आर्थिक साहाय्य किया जाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. भगवान् महावीरकी २५००वीं निर्वाण-शती सारे भारतवर्षमें व्यापक पैमानेपर मनायी जायगी। उसमें विद्वत्परिषद्के सदस्य व्यक्तिशः योगदान करेंगे ही, परिषद् भी एक साथ अनेक स्थानोंपर अथवा भिन्न-भिन्न समयोंमें अनेक विश्वविद्यालयोंमें सेमिनारों (संगोष्ठियों) का आयोजन करे। इन सेमिनारोंमें जैन एवं जैनेतर विद्वानों द्वारा जैन विद्याकी एक निर्णीत विषयावलिपर शोधपूर्ण निबन्ध-पाठ कराये जायें। इन सेमिनारोंका आज अपना महत्त्व है और उनमें विद्वान् रुचिपूर्वक भाग लेंगे।

३. आगामी तीन वर्षोंकी अवधिके लिए एक ग्रन्थ-प्रकाशनकी योजना बनायी जाय। इस योजनाके अन्तर्गत '**तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा**' ग्रन्थका तो प्रकाशन हो ही, उसके अतिरिक्त तीन अप्रकाशित संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंशके ग्रन्थों या भगवान् महावीर-सम्बन्धी नयी मौलिक रचनाओंका प्रकाशन किया जाय।

यदि अगले तीन वर्षोंमें परिषद् ये तीन कार्य कर लेती है तो वह संस्कृतिकी एक बहुत बड़ी सेवा कही जावेगी।

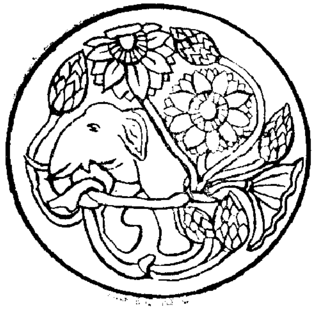

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org